6/73

3504

आगम संस्थान ग्रन्थमाला : १२

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

वीरत्थओपइण्णयं

(वीरस्तव-प्रकीर्णक)

(मुनि पुण्यविजय द्वारा संपादित मूलपाठ)

अनुवादक
डॉ० सुभाष कोठारी
प्रभारी एवं शोध अधिकारी
आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर (राज०)

भूमिका
प्रो० सागरमल जैन
डॉ० सुभाष कोठारी

आगम अहिंसा - समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

प्रकाशकीय

अर्द्धमागधी जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। दुर्भाग्य से इसके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध नहीं होने के कारण जनसाधारण उनसे अपरिचित हैं। आगम ग्रन्थों में अनेक प्रकीर्णक प्राचीन और अध्यात्म प्रधान होते हुए भी अप्राप्त से रहे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि पूज्य मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित इन प्रकीर्णक ग्रंथों के मूल पाठ का प्रकाशन महावीर विद्यालय, बम्बई से हुआ, फिर भी अनुवाद के अभाव में ये जन साधारण के लिए वे ग्राह्य नहीं थे। इसी कारण जैन विद्या के विद्वानों की समन्वय समिति ने अननूदित आगम-ग्रंथों और आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद सहित प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया और इसी सन्दर्भ में प्रकीर्णकों के अनुवाद का कार्य आगम संस्थान, उदयपुर को दिया गया। आगम संस्थान इन प्रकीर्णकों में से देवेन्द्रस्तव आदि ७ प्रकीर्णकों का अनुवाद एवं व्याख्या सहित प्रकाशन कर चुका है।

हमें प्रसन्नता है कि संस्थान के प्रभारी एवं शोध अधिकारी डॉ० सुभाष कोठारी ने वीरस्तव प्रकीर्णक का अनुवाद सम्पूर्ण किया। प्रस्तुत ग्रंथ की सुविस्तृत एवं विचारपूर्ण भूमिका संस्थान के मानद निदेशक प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० सुभाष कोठारी ने लिखकर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है इस हेतु हम इनके कृतज्ञ हैं।

प्रकाशन की इस वेला में हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द जी सोगानी, मन्त्री श्री वीरेन्द्र सिंह जी लोढ़ा एवं सह निर्देशिका डॉ० सुषमा सिंघवी के भी आभारी हैं, जो संस्थान के विकास में हर सम्भव सहयोग एवं मार्गदर्शन दे रहे हैं। डॉ० सुरेश सिसोदिया भी संस्थान की प्रकीर्णक अनुवाद योजना में संलग्न हैं। इस हेतु हम उनके भी आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री प्यारेलाल जी भण्डारी अमीबाग ने दस हजार रु० का अनुदान दिया, अतः उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थ के सुन्दर एवं सत्वर मुद्रण के लिए हम डिवाइन प्रिंटर्स के भी आभारी हैं।

गुमानमल चोरड़िया
अध्यक्ष

सरदारमल कांकरिया
मानद् महामन्त्री

विषयानुक्रम

विषय	गाथा क्रमांक	पृष्ठ क्रमांक
वीरस्तव भूमिका		
वीर जिनेन्द्र के छब्बीस नाम	१-४	
अरूह	५	
अरिहंत	६-८	
अरहंत	९-१२	
देव	१३	
जिन	१४	
वीर	१५-१६	
परमकारुणिक	१७	
सर्वज्ञ	१८	
सर्वदर्शी	१९	
पारंगत	२०	
त्रिकालविज्ञ	२१	
नाथ	२२	
वीतराग	२३-२७	
केवलि	२८-२९	
त्रिभुवनगुरु	३०	
सर्व	३१	
त्रिभुवनश्रेष्ठ	३२	
भगवान्	३३-३४	
तीर्थंकर	३५	
शक्रेन्द्राभिवन्दित	३६	
जिनेन्द्र	३७	
वर्धमान	३८	
हरि	३९	
हर	४०	

विषय	गाथा क्रमांक	पृष्ठ क्रमांक
कमलासन	४१	
बुद्ध	४२	
परिशिष्ट		
१. वीरस्तव प्रकीर्णक की गाथानुक्रमणिका		
२. सहायक ग्रन्थ सूची		

भूमिका

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्त्व है, वही स्थान और महत्त्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। यद्यपि जैन परम्परा में आगम न तो वेदों के समान अपौरुषेय माने गये हैं और न ही बाइबिल और कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश है, अपितु वे उन अर्हतों एवं ऋषियों की वाणी का संकलन हैं, जिन्होंने साधना और अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि के द्वारा सत्य का प्रकाश पाया था। यद्यपि जैन आगम साहित्य में अंग सूत्रों का प्रवक्ता तीर्थंकरों को माना जाता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तीर्थंकर भी मात्र अर्थ के प्रवक्ता हैं, दूसरे शब्दों में वे चिन्तन या विचार प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें शब्द रूप देकर ग्रन्थ का निर्माण गणधर अथवा अन्य प्रबुद्ध आचार्य या स्थविर करते हैं[1]।

जैन-परम्परा हिन्दू-परम्परा के समान शब्द पर उतना बल नहीं देती है। वह शब्दों को विचार की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम मानती है। उसकी दृष्टि में शब्द नहीं, अर्थ (तात्पर्य) ही प्रधान है। शब्दों पर अधिक बल न देने के कारण ही जैन परम्परा में आगम ग्रन्थों में यथाकाल भाषिक परिवर्तन होते रहे और वे वेदों के समान शब्द रूप में अक्षुण्ण नहीं बने रह सके। यही कारण है कि आगे चलकर जैन आगम साहित्य-अर्द्धमागधी आगम-साहित्य और शौरसेनी आगम-साहित्य ऐसी दो शाखाओं में विभक्त हो गया। यद्यपि इनमें अर्द्धमागधी आगम-साहित्य न केवल प्राचीन है, अपितु वह महावीर की मूलवाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम-साहित्य का विकास इन्हीं अर्द्धमागधी आगम-साहित्य के प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। अतः अर्द्धमागधी आगम-साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी है।

---

१. "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा"—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ९२।

यद्यपि यह अर्द्धमागधी-आगम-साहित्य महावीर के काल से लेकर वीर निर्वाण संवत् ९८० या ९९३ की वलभी की वाचना तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में अनेक बार संकलित और सम्पादित होता रहा है। अतः इस अवधि में उसमें कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है और उसका कुछ अंश काल-कवलित भी हो गया है।

प्राचीन काल में यह अर्द्धमागधी आगम-साहित्य अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंगप्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और बारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जबकि अंगबाह्य में इसके अतिरिक्त वे सभी आगम-ग्रन्थ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों की रचनाएं मानी जाती थीं। पुनः इस अंगबाह्य आगम-साहित्य को नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। आवश्यक व्यतिरिक्त के भी पुनः कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये गये हैं। नन्दीसूत्र का यह वर्गीकरण निम्नानुसार है--

श्रुत (आगम)[1]

- अंगप्रविष्ट
  - आचारांग
  - सूत्रकृतांग
  - स्थानांग
  - समवायांग
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति
  - ज्ञाताधर्मकथांग
  - उपासकदशांग
  - अन्तकृतदशांग
- अंगबाह्य
  - आवश्यक
    - सामायिक
    - चतुर्विंशतिस्तव
    - वन्दना
    - प्रतिक्रमण
    - कायोत्सर्ग
  - आवश्यक व्यतिरिक्त

१. नन्दीसूत्र—सं० मुनि मधुकर—सूत्र ७६, ७९-८१।

अनुत्तरौपपातिकदशांग प्रत्याख्यान
प्रश्नव्याकरण
विपाकसूत्र
दृष्टिवाद

कालिक	उत्कालिक
—उत्तराध्ययन	
—दशाश्रुतस्कन्ध	—दशवैकालिक
—कल्प	—कल्पिकाकल्पिक
—व्यवहार	—चुल्लकल्पश्रुत
—निशीथ	—महाकल्पश्रुत
—महानिशीथ	—औपपातिक
—ऋषिभाषित	—राजप्रश्नीय
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	—जीवाभिगम
—द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	—प्रज्ञापना
—चन्द्रप्रज्ञप्ति	—महाप्रज्ञापना
—क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति	—प्रमादाप्रमाद
—महल्लिकाविमानप्रविभक्ति	—नन्दी
—अंगचूलिका	—अनुयोगद्वार
—वग्गचूलिका	—देवेन्द्रस्तव
—विवाहचूलिका	—तंदुलवैचारिक
—अरुणोपपात	—चन्द्रवेध्यक
—वरुणोपपात	—सूर्यप्रज्ञप्ति
—गरुडोपपात	—पौरुषीमण्डल
—धरणोपपात	—मण्डलप्रवेश
—वैश्रमणोपपात	—विद्याचरण विनिश्चय
—वेलन्धरोपपात	—गणिविद्या
—देवेन्द्रोपपात	—ध्यानविभक्ति
—उत्थानश्रुत	—मरणविभक्ति
—समुत्थानश्रुत	—आत्मविशोधि
—नागपरिज्ञापनिका	—वीतरागश्रुत

—निरयावलिका
—कल्पिका
—कल्पावतंसिका
—पुष्पिका
—पुष्पचूलिका
—वृष्णिदशा
—संलेखणाश्रुतं
—विहारकल्प
—चरणविधि
—आतुरप्रत्याख्यान
—महाप्रत्याख्यान

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दीसूत्र में प्रकीर्णकों का उल्लेख अंगबाह्य, आवश्यक-व्यतिरिक्त, कालिक एवं उत्कालिक आगमों में हुआ है। पाक्षिकसूत्र में भी आगमों के वर्गीकरण की यही शैली अपनायी गयी है। इसके अतिरिक्त आगमों के वर्गीकरण की एक प्राचीन शैली हमें यापनीय परम्परा के शौरसेनी आगम 'मूलाचार' में भी मिलती है। मूलाचार आगमों को चार भागों में वर्गीकृत करता है[1]— (१) तीर्थंकर–कथित (२) प्रत्येक-बुद्ध कथित (३) श्रुतकेवली-कथित (४) पूर्वधर कथित। पुनः मूलाचार में इन आगमिक ग्रन्थों का कालिक और उत्कालिक के रूप में वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकार अर्द्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही आगम परम्पराएं कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों के रूप में प्रकीर्णकों का उल्लेख करती हैं।

प्रकीर्णक—

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ–१४वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है[2]। सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परम्परानुसार यह भी मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णकों की रचना करते थे।

जैन पारिभाषिक दृष्टि से प्रकीर्णक उन ग्रन्थों को कहा जाता है जो तीर्थंकरों के शिष्य उद्बुधचेता श्रमणों द्वारा आध्यात्म-सम्बद्ध

१. मूलाचार —भारतीय ज्ञानपीठ, गाथा, २७७
२. विधिमार्गप्रपा—पृष्ठ ५५।

विविध विषयों पर रचे जाते हैं[१]।

यह भी मान्यता है कि श्रुत का अनुसरण करके वचन कौशल से धर्मदेशना आदि के प्रसंग से श्रमणों द्वारा कथित जो रचनाएँ हैं, वे भी प्रकीर्णक कहलाती हैं[२]।

प्रकीर्णकों की संख्या—

समवायांग सूत्र में "चोरासीइं पण्णगं सहस्साइं पण्णत्ता" कहकर भगवान ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया गया है[३]।

दूसरे तीर्थंकर से तेइसवें तीर्थङ्कर तक के शिष्यों द्वारा संख्येय सहस्र प्रकीर्णक रचे गये। महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः उनके तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या चौदह हजार मानी गयी है।

नन्दीसूत्र के एक प्रसंग में ऐसा भी उल्लेख है कि तीर्थंकरों के औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी—इन चार प्रकार की बुद्धि से सम्पन्न जितने सहस्र शिष्य होते हैं, उनके उतने ही सहस्र प्रकीर्णक होते हैं अथवा उनके शासन में जितने प्रत्येक-बुद्ध होते हैं, उतने ही प्रकीर्णक-ग्रन्थ होते हैं[४]।

नन्दीसूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि अर्हत् प्ररूपित श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य भी ग्रन्थ रचना करते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहा जाता

१. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृष्ठ ४८४।

२. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ३८८।

३. समवायांग सूत्र, मुनि मधुकर, ८४ वां समवाय।

४. एवमाइयाइं चउरासीइं पइण्णग-सहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स। तहा संखिज्जाइं पइण्णग सहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं। चोद्दसपइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स। अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए परिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया, तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं। पत्तेय बुद्धा वि तत्तिया चेव।

—नन्दी सूत्र, ८१।

है। अथवा अर्हंत्-उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करते हुए उनके शिष्य धर्मदेशना आदि के सन्दर्भ में अपने वचन-कौशल से पद्यात्मक रूप में जो भाषण करते हैं, वह प्रकीर्णक-संज्ञक है[१]।

प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना तीर्थंकरों के शिष्यों द्वारा होने की जब मान्यता है, तो यह स्थिति प्रत्येक-बुद्धों के साथ कैसे घटित होगी ? क्योंकि वे तो किसी के द्वारा दीक्षित नहीं होते ? वे किसी के शिष्य भी नहीं होते ? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि प्रव्राजक या प्रव्रज्या देने वाले आचार्य की दृष्टि से प्रत्येक-बुद्ध किसी के शिष्य नहीं होते, परन्तु तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट धर्म-शासन की प्रतिपन्नता या तदनुशासन-सम्प्रक्तता की अपेक्षा से अथवा उनके शासन के अन्तर्वर्ती होने से वे औपचारिकतया तीर्थङ्कर के शिष्य कहे भी जा सकते हैं : अतः प्रत्येक बुद्धों द्वारा प्रकीर्णक रचना की संगतता व्याहृत नहीं होती[२]।

हालांकि आज अनेकों प्रकीर्णक प्राप्त होते हैं परन्तु वलभी वाचना में निम्न दस ग्रन्थों को ही प्रकीर्णक मानकर आगम ग्रन्थों का सा सम्मान प्रदान किया गया है, उनके नाम हैं :—

(१) चउसरण (चतुःशरण) (२) आउरपच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान) (३) महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) (४) भत्तपरिण्णा (भक्त परिज्ञा) (५) तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक) (६) संथारग (संस्तारक) (७) गच्छायार (गच्छाचार) (८) गणिविज्जा (गणिविद्या) (९) देविंदत्थय (देवेन्द्रस्तव) (१०) मरणसमाहि (मरणसमाधि)[३]।

१. इह यद्भगवदर्हदुपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य भगवतः श्रमणा विरचयन्ति तत्सर्वं प्रकीर्णकमुच्यते। अथवा श्रुतमनुसरन्तो यदात्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनाऽऽदिषु ग्रन्थपद्धतिरूपतया भाषन्ते तदपि सर्वं प्रकीर्णकम्।

—अभिधान राजेन्द्र, पंचम—भाग, पृ० ३

२. प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुद्धते, तदेतदसमीचीनम् यतः प्रव्राजकाऽऽचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते, न तु तीर्थङ्करोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः।

—अभिधान राजेन्द्र, पंचम भाग—पृ० ४

३. अ-प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

—नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ—१९७

नन्दी एवं अनुयोगद्वारसूत्र जैन आगम ग्रन्थमाला ग्रंथाग--१ में दस प्रकीर्णकों के नाम इस प्रकार गिनाए हैं—

(१) चउसरण (श्री वीरभद्राचार्य कृत) (२) आउरपच्चक्खाण (श्री वीरभद्राचार्य कृत) (३) भत्त परिण्णा (४) संथारग (५) तंदुल-वेयालिय (६) चंदावेज्झय (७) देविंदत्थय (८) गणिविज्जा (९) महा-पच्चक्खाण (१०) वीरत्थव[1]।

वर्तमान में हालांकि मान्य प्रकीर्णकों की संख्या दस ही है परन्तु उनके नाम में एकरूपता नहीं पायी जाती है। किन्हीं ग्रन्थों में मरण-समाधि एवं गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक एवं वीरस्तव को गिना है तो किन्हीं ग्रन्थों में देवेन्द्रस्तव एवं वीरस्तव को सम्मिलित कर दिया गया है, किन्तु संस्तारक की परिगणना नहीं करके उसके स्थान पर गच्छाचार और मरणसमाधि का उल्लेख कर दिया गया है।

इनके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक उपलब्ध होते हैं यथा--आतुरप्रत्याख्यान नाम से तीन प्रकीर्णक उपलब्ध हैं।

वर्तमान में यदि प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों का संग्रह किया जाय तो निम्न बावीस नाम प्राप्त होते हैं—

(१) चतुःशरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्था-रक (५) तंदुलवैचारिक (६) चंद्रवेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान (१०) वीरस्तव (११) ऋषिभाषित (१२) अजीव-कल्प (१३) गच्छाचार (१४) मरणसमाधि (१५) तित्थोगालि (१६) आराधनापताका (१७) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१८) ज्योतिषकरण्डक (१९) अंगविद्या (२०) सिद्धप्राभृत (२१) सारावली (२२) जीव-विभक्ति[2]।

ब-आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृष्ठ-४८६
स-जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ-३८८
द-देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक-भूमिका, पृष्ठ-१२

१. पइण्णयसुत्ताइं, मुनि पुण्यविजय जी, प्रस्तावना, पृष्ठ-२०

२. पइण्णयसुत्ताइं, मुनि पुण्यविजय जी, प्रस्तावना, पृष्ठ १९।

यहाँ एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित एवं महावीर विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित, जो पइण्णयसुत्ताइं भाग १ एवं भाग २ प्रकाशित हुए है, उनमें नाम और संख्या भिन्न रूप से प्राप्त होते हैं। मुनि पुण्यविजय जी ने अपनी प्रकीर्णक सूत्र भाग १ की प्रस्तावना में लिखा है कि वर्तमान में यदि प्रकीर्णक नाम से अभिहित ग्रन्थों का संग्रह किया जाय तो बावीस नाम प्राप्त होते हैं और उनका उन्होंने नामोल्लेख भी किया है। जबकि मूल रूप में प्रकाशित इन ग्रन्थों में प्रथम खण्ड में बीस एवं द्वितीय खण्ड में बारह प्रकीर्णक एवं कुलक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। यह सभी प्रकीर्णक उन पूर्व उल्लेखित बाइस प्रकीर्णकों से भेद रखते हैं।

मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित पइण्णयसुत्ताइं भाग १ एवं भाग २ में निम्न प्रकीर्णकों का संग्रह है।

पइण्णयसुत्ताइं भाग १ :--

इसमें निम्न बीस प्रकीर्णक हैं--

(१) देवेन्द्रस्तव	(२) तंदुलवैचारिक
(३) चन्द्रवेध्यक	(४) गणिविद्या
(५) मरणसमाधि	(६) आतुरप्रत्याख्यान
(७) महाप्रत्याख्यान	(८) ऋषिभाषित
(९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	(१०) संस्तारक
(११) वीरस्तव	(१२) चतुःशरण
(१३) आतुरप्रत्याख्यान	(१४) चतुःशरण
(१५) भक्तपरिज्ञा	(१६) आतुरप्रत्याख्यान
(१७) गच्छाचार	(१८) सारावली
(१९) ज्योतिष्करण्डक	(२०) तित्थोगाली

पइण्णयसुत्ताइं भाग २ :--

इसमें निम्न बारह प्रकीर्णक एवं कुलक ग्रन्थ हैं--

१ आराधनापताका (प्राचीनाचार्य विरचित)

२ आराधनापताका (श्री वीरभद्राचार्य विरचित)

३. आराधनासार (पर्यन्तआराधना)

४. आराधना पत्रक (श्री उद्योतनसूरी विरचित कुवलयमालाकहा के अन्तर्गत)

५. आराधनाप्रकरण (श्री अभयदेवसूरी प्रणीत)

६. आराधना (जिनेश्वर श्रावक एवं सुलसा श्राविका)

७. आराधना नन्दनमुनि द्वारा आराधित आराधना।

८. आराधना कुलक

९-१० मिथ्यादुष्कृतकुलक भाग १. २

११ आलोयणाकुलक

१२. अल्पविशुद्धि कुलक

इस प्रकार इसमें २७ प्रकीर्णक और ५ कुलक प्रकाशित हैं। इनमें चतुःशरण नामक २ प्रकीर्णक, आतुरप्रत्याख्यान नाम से ३ प्रकीर्णक और आराधना के नाम से ७ प्रकीर्णक एवं एक कुलक है। यदि आराधना, चतुःशरण और आतुरप्रत्याख्यान को एक-एक माना जाय तो कुल १८ प्रकीर्णक होते हैं। इन २ भागों में अप्रकाशित-अंगविज्जा, अजीवकल्प, सिद्धपाहुड एवं जिनविभत्ति ये चार जोड़ने पर प्रकीर्णकों की कुल संख्या २२ होती है।

इन प्रकीर्णकों के नामों में से नन्दी[1] एवं पाक्षिक सूत्र से उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में (१) देवेन्द्रस्तव (२) तंदुलवैचारिक (३) चन्द्रवेध्यक (४) गणिविद्या (५) मरणविभक्ति (६) मरणसमाधि (७) महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं एवं कालिक सूत्रों के वर्ग में (१) ऋषिभाषित एवं (२) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं।

---

१. नन्दीसूत्र-मुनि मधुकर, पृष्ठ ८०-८१

इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि आगमों की शृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और अध्यात्मपरक विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करें तो कुछ प्रकीर्णक आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित, तंदुलवैचारिक, देवेन्द्रस्तव, चन्द्रवेध्यक आदि कुछ ऐसे प्रकीर्णक हैं जो उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन अंग आगमों से भी प्राचीन हैं[1]।

वीरस्तव

वीरस्तव प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ १४वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में प्रकीर्णकों के रूप में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, संस्तारक, चन्द्रवेध्यक, भक्तपरिज्ञा, चतुःशरण, वीरस्तव, गणिविद्या, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, संग्रहणी एवं गच्छाचार इन चौदह ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है[2]।

विधिमार्गप्रपा के पूर्ववर्ती ग्रन्थों - नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में वीरस्तव का उल्लेख नहीं पाया जाता है। इस प्रकार वीरस्तव का सर्वप्रथम संकेत विधिमार्गप्रपा में ही है। विधिमार्गप्रपा में आगम ग्रन्थों के अध्ययन की जो विधि प्रज्ञप्त की गयी है, उसमें वीरस्तव का उल्लेख होना यह सिद्ध करता है कि वीरस्तव को १४वीं शती में एक प्रकीर्णक के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

वीरस्तव प्राकृत भाषा में निबद्ध एक पद्यात्मक रचना है। 'वीरस्तव' शब्द 'वीर' और 'स्तव' इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका सामान्य अर्थ तीर्थङ्कर महावीर की स्तुति है। इस वीरस्तव ग्रन्थ की विषयवस्तु पर विचार करने के पूर्व हमें प्राचीनकाल से चली आ रही स्तुतिपरक रचनाओं की परम्परा के बारे में भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

---

१. ऋषिभाषित —एक अध्ययन-प्रो० सागरमल जैन, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर।

२. विधिमार्गप्रपा —सं० जिनविजय, पृष्ठ ५७-५८।

स्तुति की परम्परा —आराध्य की स्तुति करने की यह परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही रही है। भारतीय साहित्य की अमर निधि वेद मुख्यत: स्तुतिपरक ग्रन्थ ही हैं। वेदों के अतिरिक्त भी हिन्दू परम्परा में स्तुतिपरक साहित्य की रचना होती रही है। जहाँ तक श्रमण परम्पराओं का प्रश्न है वे स्वभावत: अनीश्वरवादी एवं तार्किक परम्पराएँ हैं। श्रमणधारा के प्राचीन ग्रन्थों में हमें साधना या आत्म-शोधन की प्रक्रिया पर ही अधिक बल मिलता है। उपासना या भक्ति तत्त्व उनके लिए प्रधान नहीं रहा। जैन धर्म भी श्रमण परम्परा का धर्म है, इसलिए उसकी मूलप्रकृति में भी स्तुति का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा है। जब जैन परम्परा में आराध्य के रूप में 'महावीर' को स्वीकार किया गया तो सबसे पहले उन्हीं की स्तुति लिखी गयी, जो आज भी सूत्रकृतांग सूत्र के छठे अध्याय "वीरत्थुइ" के रूप में उपलब्ध होती है[1]। सम्भवत: जैन परम्परा में स्तुतिपरक साहित्य का प्रारम्भ इसी "वीरत्थुइ" से है। वस्तुत: इसे भी स्तुति केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें महावीर के गुणों एवं उनके व्यक्तित्व के महत्त्व को निरूपित किया गया है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें स्तुति कर्ता किसी प्रकार की याचना नहीं करता। इसके पश्चात् स्तुतिपरक साहित्य के रचनाक्रम में हमारे विचार से "णमोत्थुणं" जिसे "शक्रस्तव" भी कहा जाता है, निर्मित हुआ होगा, जिसमें किसी अर्हत् या तीर्थंकर विशेष का नाम निर्देश किये बिना सामान्य रूप से अर्हतों की स्तुति की गई है। जहाँ सूत्रकृतांग की वीरत्थुइ पद्यात्मक है वहाँ यह गद्यात्मक है। दूसरी बात इसमें अर्हन्त को एक लोकोत्तर पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है जबकि वीरस्तुति में केवल कुछ प्रसंगों को छोड़कर सामान्यतया महावीर को लोक में श्रेष्ठतम व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है, लोकोत्तर रूप में नहीं। यद्यपि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वर्णित जीवनवृत्त की अपेक्षा भी इसमें लोकोत्तर तत्त्व अवश्य प्रविष्ट हुए हैं। स्तुति-परक साहित्य में उसके पश्चात् देवेन्द्रस्तव नामक प्रकीर्णक का स्थान आता है जिसके प्रारम्भिक एवं अन्तिम गाथाओं में तीर्थङ्करों की स्तुति की गयी है। शेष ग्रन्थ इन्द्रों एवं देवों के विवरणों से भरा पड़ा

---

१. सूत्रकृतांग सूत्र—मुनि मधुकर - छठा वीरत्थुइ अध्ययन।

है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें भी ग्रंथकार ने तीर्थंकर और इन्द्रादि देवताओं से किसी भी प्रकार की भौतिक कल्याण की कामना नहीं की है। केवल ग्रन्थ की अन्तिम गाथा में कहा गया है कि सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें[1]।

देवेन्द्रस्तव की प्रथम गाथा में ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभ एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर को नमस्कार किया गया है[2]। अतः यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ऋषिपालित के समक्ष २४ तीर्थंकरों की अवधारणा उपस्थित थी। इस प्रकार स्तुतिपरक साहित्य के विकासक्रम में 'देवेन्द्रस्तव' पर्याप्त प्राचीन सिद्ध होता है। स्तुतिपरक साहित्य में इसके पश्चात् 'चतुर्विंशतिस्तव' (लोगस्स-चोवीसत्थव) का स्थान आता है। लोगस्स का निर्माण तो चौबीस तीर्थंकर की अवधारणा के बाद ही हुआ होगा। वीरत्थुइ, नमुत्थणं और देवेंदत्थओ इन तीनों ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें भक्त या रचनाकार अपने आराध्य के गुणों को स्मरण करता है। उनसे किसी प्रकार की लौकिक या आध्यात्मिक अपेक्षा नहीं रखता जब कि लोगस्स में आराधक अपने आराध्य से यह प्रार्थना करता है कि हे तीर्थंकर देव! आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे आरोग्य, बोधिलाभ तथा सिद्धि प्रदान करें।

जहाँ तक प्रस्तुत वीरत्थओ प्रकीर्णक का प्रश्न है इसमें महावीर की २६ नामों से स्तुति की गयी है। इसमें ग्रन्थकार ने अरुह, अरिहंत, अरहंत, देव, जिन, वीर, परमकारुणिक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, पारंगत, त्रिकालविज्ञ, नाथ, वीतराग, केवलि, त्रिभुवनगुरु, सम्पूर्ण, त्रिभुवन में श्रेष्ठ, भगवान, तीर्थंकर, शक्रेन्द्र द्वारा नमस्कृत, जिनेन्द्र, वर्धमान, हरि, हर, कमलासन एवं बुद्ध इन छब्बीस नामों का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए इन गुणों को महावीर पर घटित किया गया है और इसके ब्याज से उनकी स्तुति की है और अन्त में यह याचना करते हुए ग्रन्थ का समापन किया है कि कृपा करके मुझ मन्दपुण्यशाली को निर्दोष शिवपद प्रदान करें[3]।

स्तुतिपरक साहित्य में सम्भवतः लोगस्स ही प्रथम रचना है जिसमें याचना की भाषा का प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन की तो स्पष्ट

१. देवेन्द्रस्तव—गाथा ३१०।
२. देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक-गाथा १।
३. वीरत्थओ-गाथा ४३।

मान्यता रही है कि तीर्थंकर तो वीतरागी होते हैं अतः वे न तो किसी का हित करते हैं, न अहित, वे तो मात्र कल्याणपथ के प्रदर्शक हैं। लोगस्स के पाठ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ सहवर्ती हिन्दू परम्परा से प्रभावित है। लोगस्स में आरोग्य, बोधि एवं निर्वाण इन तीनों बातों की कामना की गयी है जिसमें अरोग्य, का सम्बन्ध बहुत कुछ हमारे ऐहिक जीवन के कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है। परन्तु चाहे वह इस लोक के कल्याण हेतु कामना हो या पारलौकिक कल्याण की कामना, धीरे-धीरे परवर्ती समय में यह तत्त्व जैन रचनाओं में प्रविष्ट होता गया जो जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त वीतरागता की अवधारणा से संगति नहीं रखता है। जैन दर्शन में स्तुति का क्या स्थान हो सकता है इसकी चर्चा आचार्य समन्तभद्र ने अपने स्वयम्भू स्तोत्र में की है। वे लिखते हैं कि हे प्रभु! आप वीतराग हैं अतः आपकी स्तुति से आप प्रसन्न नहीं होंगे और आप वीतद्वेष हैं अतः निन्दा से नाराज नहीं होंगे फिर भी मैं आपकी स्तुति इसलिये करता हूँ कि इससे चित्त मल की विशुद्धि होती है[1]।

इसी सन्दर्भ में आगे चलकर यह माना जाने लगा कि तीर्थंकर की भक्ति से उनके शासन के यक्ष-यक्षी (शासन-देवता) प्रसन्न होकर भक्त का कल्याण करते हैं तो लोगों में शासन देवता के रूप में यक्ष एवं यक्षी की भक्ति की अवधारणा का विकास होने लगा और उनकी भी स्तुति की जाने लगी। "उवसग्गहर" प्राकृत का सबसे पहला तीर्थंकर के साथ-साथ उनके शासन के यक्ष की स्तुति करने वाला स्तोत्र है[2]। इस स्तोत्र के कर्त्ता वाराहमिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहु (ईसा की छठीं शती) को माना जाता है।

इसके पश्चात् प्राकृत संस्कृत और आगे चलकर मरु-गुर्जर में अनेक स्तोत्र बने, जिनमें ऐहिक सुख-सम्पदा प्रदान करने की भी कामना की गयी। यह सब चर्चा हमने सिर्फ स्तुतिपरक साहित्य के विकासक्रम पर दृष्टिपात करने के उद्देश्य से की है कि स्तुतियों का किस क्रम से किस रूप में विकास हुआ[3]। वीरस्तव भी ऐसा ही एक स्तुतिपरक ग्रन्थ है।

१. स्वयम्भूस्तोत्र—५७
२. उवसग्गहर स्तोत्र-गाथा १-५ ॥
३. देवेन्द्रस्तव-भूमिका-पृष्ठ १५ ॥

ग्रन्थ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय

मुनि श्री पुण्यविजय जी ने वीरस्तव ग्रन्थ के पाठ निर्धारण में निम्न हस्तलिखित प्रतियों का प्रयोग किया है—

(१) सं० — श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमन्दिर पाटन की प्रति। यह प्रति संघवीपाड़ा जैन ज्ञान भण्डार की है, जो ताड़पत्र पर लिखी हुई है।

(२) हं० — श्री आत्माराम जैन ज्ञान मन्दिर, बड़ौदा की प्रति। यह प्रति मुनि श्री हंसराज जी म० सा० के हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रह की है।

(३) प्र० — श्री पूज्यपाद प्रवर्तक श्री कांतिविजय जी म० सा० के संग्रह की प्रति की कोई नकल है।

(४) पु०-१ — श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या-मन्दिर, अहमदाबाद में सुरक्षित, यह प्रति मुनि श्री पुण्यविजय जी म० सा० के संग्रह की है।

हमने उक्त क्रमांक १ से ४ तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनिपुण्यविजय जी द्वारा 'सम्पादित पइण्णय सुत्ताइं' नामक ग्रन्थ से लिये हैं। इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से 'पइण्णय सुत्ताइं' ग्रन्थ की प्रस्तावना के पृष्ठ २३-३० देखने की अनुशंसा करते हैं।

ग्रन्थ के कर्त्ता एवं रचनाकाल--

प्रकीर्णक ग्रन्थों के रचयिताओं के सन्दर्भ में मात्र देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक के कर्त्ता ऋषिपालित का उल्लेख मिलता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकीर्णक के कर्त्ता का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता। हालांकि पइण्णय सुत्ताइं भाग १ की प्रस्तावना[1] में मुनि पुण्यविजय जी ने, प्राकृत साहित्य के इतिहास में जगदीश चन्द्र जी जैन ने[2], जैन

---

१. पइण्णय सुत्ताइं भाग १-प्रस्तावना १७-१८।

२. प्राकृत साहित्य का इतिहास-पृ० १२८

आगम साहित्य : मनन और मीमांसा में, देवेन्द्र मुनि शास्त्री[1] ने चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा एवं आराधना पताका के कर्त्ता के रूप में वीरभद्र का उल्लेख किया है परन्तु तत्सम्बन्धी प्रमाण की कोई चर्चा नहीं की है।

जैन परम्परा में वीरभद्र के दो उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रथम वीरभद्र तो महावीर के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं किन्तु इनकी ऐतिहासिकता स्पष्ट नहीं है। द्वितीय वीरभद्र का उल्लेख वि० सं० १००८ प्राप्त होता है[2]। हो सकता है वीरस्तव द्वितीय वीरभद्र की ही रचना हो। वीरस्तव में ग्रन्थकर्त्ता ने कहीं पर भी अपने नाम का संकेत नहीं किया है। इसके पीछे ग्रन्थकार की यह भावना रही होगी कि महावीर के विभिन्न नामों से मैं जो स्तुति कर रहा हूँ वह सर्वप्रथम मेरे द्वारा तो की नहीं गयी है। अनेक पूर्वाचार्यों एवं ग्रन्थकारों द्वारा इन नामों से महावीर की स्तुति की जा चुकी है, इस स्थिति में मैं ग्रन्थ का कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ? इसमें ग्रन्थकार की विनम्रता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वैसे भी प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों में कर्त्ता का नामोल्लेख नहीं पाया जाता है अतः यह माना जा सकता है कि वीरस्तव भी प्राचीन स्तर का ग्रन्थ है।

जहाँ तक वीरस्तव के रचनाकाल का प्रश्न है, नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण प्राप्त होता है उसमें वीरस्तव का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

इसके पश्चात् दिगम्बर परम्परा की तत्त्वार्थ की टीकाओं एवं यापनीय परम्परा के मूलाचार, भगवती आराधना आदि में भी वीरस्तव का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे यह तो स्पष्ट है कि यह छठीं शताब्दी के पूर्व में अस्तित्व में नहीं था। वीरस्तव प्रकीर्णक का सर्वप्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है इससे यह स्पष्ट है कि वीरस्तव प्रकीर्णक नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र अर्थात् छठीं शताब्दी के पश्चात् तथा विधिमार्गप्रपा १४वीं शताब्दी के पूर्व अस्तित्व

१. (अ) जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ० ४००

(ब) The Canonical Literature of the Jainas Page-51-52

२. The Canonical Literature of the Jainas Page-52

में आ चुका था। पुनः यदि हम अनेक प्रकीर्णकों के रचयिता के समान इस प्रकीर्णक के कर्त्ता भी वीरभद्र को माने तो उनका काल १०वीं शताब्दी निश्चित है। ऐसी स्थिति में वीरस्तव का रचनाकाल भी ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी होना चाहिए किन्तु वीरभद्र वीरत्थओ के रचयिता हैं इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अतः इस बारे में विशेष अधिकार पूर्वक कह पाना बहुत मुश्किल है। यहाँ पर तो हम इतना ही कह सकते हैं। वीरस्तव के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक अनुमान यह किया जा सकता है, सर्वप्रथम आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के भावना अध्ययन में और कल्पसूत्र में महावीर के तीन गुण निष्पन्न नामों का उल्लेख हुआ है। जब हिन्दू पुराणों में विष्णु आदि के सहस्र नाम देने की परम्परा का विकास हुआ तो जैनों में भी उसका अनुसरण करके जिन सहस्रनाम लिखे गये। सबसे प्राचीन जिनसहस्रनाम जिनसेन लगभग ९वीं शती का है। प्रस्तुत कृति में मात्र २६ नाम हैं--इससे ऐसा लगता है कि, यह कृति उसके पूर्व ही कभी लिखी गई हो। सुज्ञजन इस बारे में विशेष एवं विवेचन खोजकर इस कमी को पूरा करेंगे।

विषयवस्तु : वीरस्तव प्रकीर्णक में कुल ४३ गाथाएँ हैं। इन गाथाओं में श्रमण भगवान महावीर के २६ नामों की व्युत्पत्तिपरक स्तुति प्रस्तुत की गयी है। ग्रन्थकार ने महावीर को अरूह, अरिहंत, अरहंत, देव, जिन, वीर, परमकारुणिक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, पारग, त्रिकालविज्ञ, नाथ, वीतराग, केवलि, त्रिभुवन गुरु, सर्व, त्रिभुवन में श्रेष्ठ, भगवान, तीर्थंकर, शक्रेन्द्र द्वारा नमस्कृत, जिनेन्द्र, वर्धमान, हरि, हर, कमलासन और बुद्ध विशेषण देकर उनका गुण कीर्तन किया है। (गाथा १-४) इन छब्बीस नामों का व्युत्पत्तिपरक अर्थ निम्न प्रकार किया है—

(१) **अरूह**--महावीर को जन्म-मरण रूपी संसार के बीज को अंकुरित करने वाले कर्मों को ध्यान रूपी ज्वाला में जलाकर संसार में पुनः उत्पन्न नहीं होने के कारण 'अरूह' कहा गया है। (गाथा ५)

(२) **अरिहंत**—घोर उपसर्ग, परिषह एवं कषायों का नाश करने वाले, वन्दन स्तुति, नमस्कार, पूजा, सत्कार एवं सिद्धि के योग्य

तथा देव, मनुष्य एवं इन्द्रों से पूजित होने के कारण अरिहंत कहा गया है। (गाथा ६-८)

(३) अरहंत —समस्त परिग्रह से रहित (अरह), जिससे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है (अरहस्), श्रेष्ठ ज्ञान के द्वारा निज स्वरूप को प्राप्त, मनोहर एवं अमनोहर शब्दों से अलिप्त, मन, वचन, शरीर से आचार में रमे हुए, श्रेष्ठ देवों एवं इन्द्रों से पूजित एवं मोक्षद्वार पर स्थित होने से महावीर को अरहंत कहा गया है। (गाथा ९-१२)

(४) देव नाम—सिद्धिरूपी स्त्री से क्रीड़ा करने वाले, मोह रूपी शत्रु के विजेता, अत्यन्त शुभ एवं पुण्य परिणामों से युक्त होने के कारण देव कहा गया है। (गाथा १३)

(५) जिन—रागादि शत्रु से रहित तथा वचन समाधि एवं संसार के उत्कृष्ट गुणों से युक्त होने से उन्हें जिन कहा गया है। (गाथा १४)

(६) वीर—दुष्ट अष्ट कर्मों से रहित, भोगों से विमुख, तप से शोभित एवं मोक्ष की ओर अग्रसर होने के कारण महावीर कहा गया है। (गाथा १५-१६)

(७) परम कारुणिक—दुःखों से पीड़ित प्राणियों को संसार से मुक्त कराने में लगे हुए, शत्रु एवं मित्र सभी पर परम करुणावान होने से वे परम कारुणिक हैं। (गाथा १७)

(८) सर्वज्ञ —अपने निर्मल ज्ञान से भूत, भविष्य एवं वर्तमान को जानने वाले हैं, अतः आप सर्वज्ञ हैं। (गाथा १८)

(९) सर्वदर्शी—सबके रूपों एवं क्रियाकलापों को एक साथ अवलोकन करते हैं, अतः वे सर्वदर्शी कहलाते हैं। (गाथा १९)

(१०) पारग—समस्त प्राणियों के कर्म भवों को तिराने में समर्थ एवं मार्ग प्रशस्त करने वाले होने से उन्हें पारग कहा गया है।(गाथा २०)

(११) त्रिकालज्ञ—संसार के होने वाले भूत, भविष्य एवं वर्तमान को हाथ में रखे हुए आंवले की तरह देखने में समर्थ होने से महावीर को त्रिकालज्ञ कहा गया है। (गाथा २१)

(१२) नाथ—भव-भवान्तर से संसार में पड़े हुए अनाथों के लिए मंगल उपदेश प्रदाता होने से आप नाथ हैं। (गाथा २२)

(१३) वीतराग--विषयों में अनुरक्त भावों को राग एवं विपरीत भावों को द्वेष कहा जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि के अहंकार को गलित करने पर भी अहंकार से रहित तथा शरीर में अनेक देवों का निवास स्थान होने पर भी विकार रहित होने के कारण आपको वीतराग कहा गया है (गाथा २३-२७)

(१४) केवली—सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को तीनों कालों में एक साथ जानने से, अप्रतिहत शक्ति के धारणहार श्रेष्ठ साधु व्रत से युक्त होने से केवली कहा गया है। गाथा २८-२९)

(१५) त्रिभुवन गुरु—लोक में सद्धर्म का विनियोजन करने के कारण त्रिभुवन गुरु कहा गया है। (गाथा ३०)

(१६) सर्व--सभी प्राणियों के दुःखों के नाशक एवं हितकारी उपदेशक होने से महावीर को सम्पूर्ण कहा गया है। (गाथा ३१)

(१७) त्रिभुवन श्रेष्ठ—बल, वीर्य, सौभाग्य, रूप, ज्ञान-विज्ञान से युक्त होने से त्रिभुवन श्रेष्ठ कहा गया है। (गाथा ३२)

(१८) भगवन्-प्रतिपूर्ण रूप धर्म, कांति, प्रयत्न, यश एवं श्रद्धा वाले होने से तथा इह लौकिक एवं पारलौकिक भयों को नष्ट करने वाले होने से महावीर को भगवान् कहा गया है। (गाथा ३३-३४)

(१९) तीर्थंकर—चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले होने के कारण महावीर को तीर्थंकर नाम दिया गया है। (गाथा ३५)

(२०) शक्रेन्द्रनमस्कृत:—गुणों के समूह से युक्त आपका इन्द्रों द्वारा भी कीर्तन किया जाता है इसलिए आपको शक्रेन्द्र द्वारा अभिवन्दित कहा जाता है। (गाथा ३६)

(२१) जिनेन्द्र—मनःपर्याय ज्ञानी एवं उपशान्त क्षीण मोहनीय व्यक्ति जिन कहे जाते हैं और वे उनसे भी अधिक ऐश्वर्यवान हैं अतः महावीर जिनेन्द्र हैं। (गाथा ३७)

(२२) वर्धमाण—महावीर के गर्भ में आने से राजा सिद्धार्थ के घर में वैभव, स्वर्ण, जनपद एवं कोश में भारी वृद्धि हुई, इस कारण उन्हें वर्धमाण कहा गया है। (गाथा ३८)

(२३) **हरि**—हाथ में शंख, चक्र एवं धनुष चिह्न धारण किए हुए होने से उन्हें विष्णु कहा जाता है। (गाथा ३९)

(२४) **महादेव**- प्राणियों के बाह्य एवं आभ्यंतर कर्मरज के हरण करने वाले होने से, खट्वाङ्ग एवं नीलकण्ठ युक्त नहीं होने पर भी आप महादेव कहे जाते हैं। (गाथा ४०)

(२५) **ब्रह्मा** —कमलासन, दानादि चार धर्म रूपी मुख होने से एवं हंस अवस्था में गमन होने से आप ब्रह्मा कहे गये हैं। (गाथा ४१)

(२६) **त्रिकालविज्ञ**—जीवादि नव तत्त्व जानने वाले एवं श्रेष्ठ केवलज्ञान के धारक होने से आपको त्रिकालविज्ञ कहा जाता है। (गाथा ४२)

वीरस्तव प्रकीर्णक की विषयवस्तु एवं नामों का जैन आगमों एवं अन्य स्तुतिपरक ग्रन्थों में विस्तार

वीरस्तव प्रकीर्णक में प्राप्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उसमें महावीर के २६ नामों से स्तुति की गयी है। स्तुतिपरक साहित्य के विकासक्रम में आगे चलकर गुणसूचक विभिन्न पर्यायवाची नामों के अर्थ की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए उसके व्याज से स्तुति करने की एक परम्परा ही चली। इस शैली में जिनसहस्रनाम, विष्णु-सहस्रनाम, शिवसहस्रनाम आदि रचनाएं निर्मित हुईं। प्रस्तुत प्रकीर्णक इस शैली का प्रारम्भिक ग्रन्थ है।

वीरस्तव में प्रतिपादित नामों में से अनेक नाम आचारांग, सूत्र-कृतांग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अनुत्तरोपपातिक-दशा आदि आगम ग्रन्थों में तथा जिनसहस्रनाम, अर्हत्सहस्रनाम, ललितविस्तरा आदि परवर्ती जैन ग्रन्थों एवं विष्णुपुराण, शिवपुराण, गणेशपुराण आदि जैनेतर ग्रन्थों में किञ्चित् भेद से प्राप्त होते हैं।

वीरस्तव में महावीर के जो २६ गुणनिष्पन्न नाम गिनाए गये हैं उनमें से अनेक नाम अपनी प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रारम्भिक काल में अरहंत, अर्हत्, बुद्ध, जिन, वीर, महावीर आदि शब्द विशिष्ट ज्ञानियों/महापुरुषों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते थे। परन्तु धीरे-धीरे ये शब्द केवल श्रमण परम्परा के विशिष्ट शब्द बन गये। पं० दलसुख भाई मालवणिया लिखते हैं कि अरिहंत एवं अर्हत शब्द भगवान् बुद्ध एवं महावीर के पहले ब्राह्मण परम्परा में भी प्रयुक्त होते थे परन्तु भगवान बुद्ध एवं महावीर के पश्चात् ये दोनों शब्द केवल इन्हीं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगे। ज्ञानी जनों के लिए 'बुद्ध' शब्द प्रचलन में था परन्तु बुद्ध के बाद यह शब्द भी उनके ही विशेषण के रूप में प्रचलन में आ गया।

'जिन' शब्द भगवान महावीर के पूर्व सभी इन्द्रिय विजेता साधकों के लिए प्रयोग होता था परन्तु बाद में जिन शब्द जैनधर्म के तीर्थंकरों के विशेषणरूप से प्रयोग होने लगा और इनके अनुयायियों के लिए जैन शब्द प्रचलित हो गया[1]।

---

1. आचारांग १।२।१२

आचारांग सूत्र में महावीर के नाम –भगवान महावीर के संदर्भ में प्राचीनतम सूचना देनेवाला ग्रन्थ आचारांग सूत्र माना जाता है। यह ग्रन्थ मुख्यतः साधना-प्रधान है फिर भी इसमें उनके जीवनवृत्त की झलक इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९वें उपधान श्रुत में देखने को मिलती है। इसमें भगवान के साधना काल में 'भिक्षु' संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[१]। इसी में इनके कुल का परिचय देते समय ज्ञातपुत्र शब्द भी प्राप्त होता है[२]। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवें अध्ययन में इनके लिए 'माहण', 'नाणी' और 'मेहावी' शब्दों का प्रयोग किया गया है[४]। ये तीनों शब्द वीरस्तव में नहीं हैं।

श्रवण भगवान महावीर के प्रति अपने पूज्य भाव दर्शाने के कारण आचारांग में जगह-जगह पर 'भगवं', 'भगवंते', 'भगवया' शब्द प्रयोग किये गये हैं[३]। 'वीर' शब्द का प्रयोग आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्राप्त तो होता है परन्तु वह अत्यन्त पराक्रमी, आध्यात्मिक दृष्टि से पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है सम्भवतः यही आगे चलकर महावीर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगा होगा[४]।

इसी प्रकार 'बुद्ध' एवं 'प्रबुद्ध' शब्द भी महावीर के विशेषण के रूप में आचारांग में प्राप्त होते हैं। बाद में यह बुद्ध शब्द भगवान बुद्ध के लिये प्रयुक्त होने लगा[५] और जैन परम्परा में इसका प्रचलन समाप्त होने लगा।

सारांश रूप से आचारांग में मुनि, भिक्षु, माहण, ज्ञातृ पुत्र, भगवान, वीर, तीर्थंकर, केवली, सर्वज्ञ आदि विशेषण विशेष रूप से महावीर के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

[२] **सूत्रकृतांग सूत्र में महावीर के नामों की चर्चा** —सूत्रकृतांग के प्राचीन अंश प्रथम श्रुत स्कन्ध में वीर स्तुति में प्रतिपादित नामों के

---

१. आचारांग ९।१।१०

२. वही ९।१।१६, ९।१।२३ आदि।

३. (A) समणे भगवं महावीरे··· आचारांग ९।१।१, ९।२।५, ९।३।७

(B) महावीर चरित्र मीमांसा–पं० दलसुख मालवणिया–पृ० १४॥

४. एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए···। आचारांग १।१।६० ॥

५. महावीर चरित मीमांसा—पृ० १५।

कई नाम महावीर के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर पूर्व आचारांग गत नामों के अतिरिक्त 'वीर' शब्द का उल्लेख हुआ है उदाहरण के लिए--

[अ] 'वीर'--सूत्रकृतांग--१।१।१।१।

[ब] एवमाहु से वीरे--वही--१४।२।२२।

[स] उदाहु वीरे-वही--१।१४।११।

'भगवान्', 'जिन' एवं 'अरिहन्त' शब्द का प्रयोग पूर्व परम्परा की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं[१]।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमण भगवान महावीर के तीन नामों का उल्लेख हुआ है[२]-- वर्धमान, सन्मति और श्रमण। श्रमण भगवान महावीर के ज्ञातपुत्र, विदेह आदि नामों का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे·· "समणे भगवं महावीरे नाए नायपुत्ते नाह कुलनिव्वत्ते विदेह विदेहदिन्ने···[३]"। ज्ञातव्य है कि वीर आदि नामों के साथ-साथ आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध में प्रथम बार तित्थयर, भगवं, अरहंत, केवलि, जिन सव्वणु नामों का महावीर के लिए स्पष्ट रूप से प्रयोग हुआ है[४]।

सूत्रकृतांग में महावीर के लिए 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग भी अनेक जगह हुआ है[५]। साथ ही साथ अनन्तचक्षु[६] सर्वदर्शी[७] त्रिलोकदर्शी[८]

---

१. सूत्रकृतांग--११।२।३।२२, १।१६।१, १।२।३, १९, १।९।२९।।

२. आचारांग--२।१५।१७५

३. वही--२।१७१

४. (A) वही २।१०९

(B) से भगवं अरहं जिणे, केवली सव्वण्णू सव्व भावदरिसी···आचारांग २।१५।१७९।।

५. सूत्रकृतांगसूत्र--१।११।२५, १।११।३५, १।१५।१८।

६. वही--१।६।६।

७. वही--१।६।५।

८. वही--१।१४।१६।

केवली[1] महर्षि[2] मुनि[3] प्रभु[4] आदि शब्दों। विशेषणों का प्रयोग भी महावीर के लिए किया गया है।

स्थानांग सूत्र में महावीर के लिए 'भगवंत', 'तीर्थंकर', 'अर्हत्', 'जिन', 'केवली' शब्दों का प्रयोग उनके विशेषण के रूप में हुआ है[5]।

समवायांग सूत्र में "समणस्स भगवओ महावीरस्स" शब्दों के उल्लेख के साथ-साथ 'तीर्थंकर', 'सिद्ध', 'बुद्ध', 'अर्हन्' का भी उल्लेख अलग-अलग स्थानों पर हुआ है[6]।

भगवतीसूत्र[7] ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र[8] एवं अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र[9] में महावीर के विशेषणों की परम्परा और विकसित हुई और उन्हें महावीर, (धर्म के) आदिकर्ता तीर्थंकर, स्वयंसंबुद्ध, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुष-वर-पुण्डरीक, लोकोत्तम, लोकनाथ, धर्मसारथी, जिन, बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव, सिद्धगति को प्राप्त आदि विशेषणों द्वारा संबोधित कर उनका गुण कीर्तन किया गया है।

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र—१।१४।१५।
२. वही—१-६-२६।
३. वही—१-६-७।
४. वही—१-६-२८।
५. स्थानांग सूत्र-मुनि मधुकर-१/१, २/४ पृ० १२, पृ० ५१६॥
६. समवायांग सूत्र-मुनि मधुकर-समवाय-११, समवाय-१५, समवाय-२१ समवाय २४, समवाय ५४ आदि।
७. "समणे भगवं महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सहसंबुद्धे, पुरुषत्तमे, पुरिस-सीहे, पुरुषवरपुण्डरिए, लोगुत्तमे, लोगनाहे, लोगपईवे·····धम्मदेसए, धम्मसारही·····जिणे जावए, बुद्धे, बोहए मुत्ते मोयए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुयमणंतमक्खय-मव्वाबाहमपुणरावत्तयं सिद्धि-गइनामधेयं ठाणं संपाविउकामाणं॥

भगवतीसूत्र -मुनि मधुकर ५/१॥

८. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—मुनि मधुकर १।८।
९. अनुत्तरोपपातिकदशा—मुनि मधुकर १।१. ३।२२।

उपासकदशांगसूत्र में यह गुण निष्पन्न नाम देने की परम्परा और विकसित हुई और उसमें श्रमण भगवान महावीर, आदिकर, तीर्थंकर, स्वयंसंबुद्ध, जिन, तारक, बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव, अर्हत्, जिन, केवली आदि नामों के उल्लेख मिलते हैं[1]।

आगे चलकर न केवल अपनी परम्परा में प्रचलित गुणनिष्पन्न नामों का संग्रह किया गया अपितु अन्य परम्परा में प्रचलित उनके इष्ट देवों के नामों को भी संग्रहित किया गया — जिन शत नाम जिन सहस्र नाम आदि रचनाएँ निर्मित हुई। इसी प्रकार की शैली का संकेत हमें भक्तामर स्तोत्र में भी मिलता है जिसमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उनके लिए शिव, विधाता, शंकर, पुरुषोत्तम आदि विशेषण/गुण निष्पन्न नाम घटित किये गये।

वैदिक एवं बौद्ध ग्रन्थों में नाम साम्यता—

वैदिक परम्परा में विष्णु को पुरुषोत्तम भी कहा गया है[2]। पुरुषपुण्डरीक नाम भी वैदिक परम्परा में विष्णु के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। पुरुषवर, पुरुषपुण्डरीक एवं लोकनाथ शब्द विष्णु के लिए महाभारत में प्रयुक्त है[3]

बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में अंगुत्तर निकाय के अतिरिक्त महावीर विशेषणों को ही बुद्ध के विशेषण के रूप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग है[4]। उसमें इन सब शब्दों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी शब्द पालित्रिपिटक में प्राप्त होते हैं[5]।

पालित्रिपिटक में महावीर के लिए विशेषण के रूप में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी,

---

१. उवासगदसाओ—मुनिमधुकर—पृ० १३-१८ ॥
२. महावीर चरित मीमांसा०-पं० दलसुख मालवणिया-पृ० २२
३. (अ) वही-पृ० २३
   (ब) तुलना - "सो भगवया अरहं.........पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमणुस्साण बुद्धो भगवा—**अनुत्तरनिकाय**-३।२८५।
४. विसुद्धिमार्ग—पृ० १३३ ॥ (४) "सब्बण्णु सब्बदस्सावी अपरिसेसं गाणदस्सन पटिजानाति"—महावीर चरितमीमांसा० पृ० २३ ॥
५. महावीर चरित मीमांसा पृ० २३ ॥

तीर्थंकर आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है[1]।

हिन्दू धर्म में स्तुति की परम्परा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। अन्य सभी मतावलम्बियों के समान उसने भी अपने आराध्य की स्तुति एक हजार आठ नामों से की है। उदाहरण के लिए विष्णु-सहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, गणेशसहस्रनाम, अम्बिकासहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम आदि स्तुतियां प्रचलन में हैं[2]।

श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र कृत ललित विस्तरा जो कि नमोत्थुणं/शक्रस्तव की टीका है[3] में तीर्थंकर के लिए प्रयुक्त विभिन्न विशेषणों की विस्तृत व्याख्या की गई है[4]।

इन मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त पं० आशाधर ने वि० सं० १३०० के लगभग जिनसहस्र नाम से एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उन्होंने १००८ नामों से जिनेश्वर देव की स्तुति प्रस्तुत की है। इन १००८ नामों में वीरत्थुओ के २६ नामों में से अनेक नामों का उल्लेख प्राप्त हो जाता है[5]। दश शतकों में विभाजित इस ग्रंथ का पहला शतक जिननाम शतक है [1] इसमें भव[6] कानन (जन्म-मरण) सम्बन्धी अनेक महाकष्टों के कारणभूत विषम व्यसन रूपी कर्म रूपी शत्रुओं को जिसने जीत लिया है उसे 'जिन' कहा गया है।

[2] 'वीतराग' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि राग के विनष्ट हो जाने से आप वीतराग हैं[7]।

[3] द्वितीय सर्वज्ञ शतक में 'सर्वज्ञ' शब्द की व्याख्या कुछ इस तरह की है -

---

१. महावीर चरितमीमांसा—पृ० १७।

२. जिन सहस्रनाम—पं० आशाधर—प्रस्तावना पृ० १३-१४

३. प्रणम्य भुवनालोकं महावीरं जिणोत्तमम्"—ललितविस्तरा—१।

४. नमोत्थुणं ...... तित्थयराणं ... जिणाणं ...... सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ......
ललितविस्तरा——वन्दना सूत्र पृ० २९।।

५. जिन-सर्वज्ञ-यज्ञार्ह-तीर्थकृन्नाथ-योगिनाम्।
निर्वाण-ब्रह्म-बुद्धान्तकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ (जिनसहस्रनाम १।५)

६. कर्मारातीन् जयति क्षयं नयति निं जिन. (जिनसहस्रनाम-टीका पृ० ५८)

७. "वीतो विनष्टो रागो यस्येति वीतराग" जिनसहस्रनाम पृ० ६१

"सर्वं त्रैलोक्य-कालत्रयवर्ति द्रव्यपर्यायसहितं वस्त्वलोकं च जानातीति। सर्वं वेत्तीति।

अर्थात् त्रिलोक त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य पर्यात्मक वस्तु स्वरूप को जानने वाले होने के कारण आप सर्वज्ञ हो[२]।

[४] यहीं पर सर्व चराचर जगत् को देखने वाले होने के कारण 'सर्वदर्शी' नाम दिया गया है[३]।

[५] 'केवली' केवल ज्ञान के धारक होने से मुनिजनों द्वारा आपको केवली कहा जाता है[४]।

[६] 'भगवान' 'भग' शब्द ऐश्वर्य, परिपूर्ण ज्ञान, तप, लक्ष्मी, वैराग्य एवं मोक्ष इन छः अर्थों का वाचक है और आप इन छहों से संयुक्त हैं अतः आप भगवान हैं[५]।

[७] अर्हन्, अरिहंत, अरहंत जिनसहस्रनाम में इन तीनों को एक ही मानकर कहा गया है कि आप दूसरों में नहीं पायी जाने वाली पूजा के योग्य होने से अर्हन् हैं। अकार से मोह रूप अरि का, रकार से ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण रूप रज का तथा रहस्य अर्थात् अन्तराय कर्म का ग्रहण किया है। हे भगवान! आपने इन चारों ही घातिया कर्मों का हनन किया है इस कारण आप अर्हण्, अरिहंत और अरहंत इन नामों से पुकारे जाते हैं[६]।

[८] 'तीर्थंकर' जिसके द्वारा संसार सागर से पार उतरते हैं उसे तीर्थ कहते हैं। जगत् के प्राणी आपके द्वारा प्ररूपित बारह अंगों का आश्रय लेकर भव को पार होते हैं। आप इस प्रकार के तीर्थ के करने वाले हैं इसलिए आपको तीर्थंकर कहा जाता है[७]।

---

२. जिनसहस्रनाम शतक—२, पृष्ठ ६१॥

३. वही, शतक—२, पृष्ठ ६१॥

४. वही, शतक—२, पृष्ठ ६८॥

५. "भगो ज्ञान परिपूर्णैश्वर्यं तपः श्रीर्वैराग्यं मोक्षश्च विद्यते यस्य स तथोक्तः"
(जिनसहस्रनाम, शतक ३, पृ० ७०)

६. जिनसहस्रनाम, शतक ३ पृष्ठ ७०।

७. वही, शतक ४, पृ० ७८।

[९] 'नाथ' कैवल्यावस्था में भक्त आपसे स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु याचना करते हैं अतः आपको नाथ कहा जाता है[1]।

[१०] 'महाकारुणिक' महान दयालु स्वभाव होने के कारण आपको महाकारुणिक कहा गया है[2]।

[११] 'वीर' महावीर को श्रेष्ठ एवं निज भक्तों को विशिष्ट (उपदेशात्मकरूपी) लक्ष्मी प्रदाता होने के कारण वीर कहा है[3]।

[१२] 'वर्धमान' आप ज्ञान वैराग्य एवं अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से निरन्तर वृद्धिगत होते हैं अतः वर्धमान हैं अथवा ज्ञान एवं सम्मान रूप परम अतिशय को प्राप्त होने के कारण आप वर्धमान हैं[4]।

[१३] 'कमलासन' यहां पर कमलासन के ३ रूप दिये हैं–

[i] समवशरण में कमल पर अन्तरिक्ष में विराजित रहते हैं, अतः कमलासन हैं अथवा आप पद्मासन से विराजमान रहकर धर्मोपदेश देते हैं। अतः कमलासन हैं।

[ii] विहार के समय देवगण आपके चरणों के नीचे सुवर्णकमलों की रचना करते हैं। इसलिये आप कमलासन हैं।

[iii] 'क' अर्थात् आत्मा के अष्टकर्मरूपी 'मल' का सम्पूर्ण विनाश करते हैं अतः आप कमलासन हैं[5]।

[१४] पापों का हरण करने वाले होने से आप हरि कहे जाते हैं[6]।

[१५] 'बुद्ध' आप केवलज्ञान रूपी बुद्धि को धारण करने वाले होने के कारण बुद्ध कहलाते हैं[7]।

---

१. नाथ्यैते स्वर्ग-मोक्षौ याच्यैते भक्तैर्वा नाथः ॥

—जिनसहस्रनाम शतक ५, पृष्ठ ८८

२. जिनसहस्रनाम–पं० आशाधर पृ० ९५।

३. वही, शतक ७, पृ० १०२।

४. वही शतक ७ पृ० १०२।

५. जिनसहस्रनाम–शतक ८, पृ० १०८।

६. वही, पृष्ठ ११०।

७. वही, शतक ९ पृष्ठ ११९।

इस प्रकार जिन सहस्रनाम के दस शतकों में वीरस्तव के ३६ में से १५ नामों की समानता प्राप्त होती है।

इसके पूर्व आचार्य जिन सेन ने जिन सहस्र नाम से दस शतकों का एक ग्रन्थ लिखा था। इसी प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने भी जिन 'सहस्र नाम का' १२३ श्लोकों का एक ग्रंथ लिखा। श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्राचार्य ने 'श्री अर्हन्नामसहस्रसमुच्चयः' नाम से १२३ श्लोकों का ग्रन्थ लिखा, जिनमें भी महावीर के अनेक पर्यायवाची नामों एवं गुणों का संकीर्तन किया गया है।

इस प्रकार जैन आगमों एवं अन्य स्तुतिपरक ग्रन्थों के तुलनात्मक विवेचन में हमने अपनी ज्ञान सीमाओं को ध्यान में रखते हुए चर्चा प्रस्तुत की है। हमारी यह इच्छा अवश्य थी कि वीरत्थओ में प्रतिपादित एक-एक शब्द का जैन बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में विस्तार खोजा जाय, परन्तु इससे ग्रन्थ प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। हम आशा करते हैं कि स्तुतिपरक साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वान विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन कर इस कमी को पूरा करेंगे। इसी शुभेच्छा के साथ—

वाराणसी
१ जनवरी १९९५

सागरमल जैन
सुभाष कोठारी

वीरत्थओ

(वीरजिणस्स छव्वीसई णामधेयाणि)

नमिऊण जिणं जयजीवबंधवं भवियकुमुयरयणियरं।
वीरं गिरिंदधीरं थुणामि पयडत्थनामेहिं ॥ १ ॥

अरुह ! १ अरिहंत ! २ अरहंत ! ३ देव ! ४ जिण ! ५ वीर ! ६
परमकारुणिय ! ७ ।
सव्वण्णु ! ८ [1]सव्वदरिसी ! ९ पारय ! १० तिक्कालविउ ! ११
नाह ! १२ ॥ २ ॥

जय वीयराय ! १३ केवलि ! १४ तिहुयणगुरु ! १५ सव्व ! १६
तिहुयणवरिट्ठ ! १७ ।
भयवं ! १८ तित्थयर ! १९ त्ति य सक्केहिं-नमंसिय ! २०
जिणिंद ! २१ ॥ ३ ॥

सिरिवद्धमाण ! २२ हरि २३ हर २४ कमलासण २५
पमुह (? मुद्ध) २६ नामधेएहिं ।
[2]अन्नत्थगुणजुएहिं जडमई वि सुयाणुसारेण ॥ ४ ॥ दाराइं ।
[चउहिं कलावगं]

[१ अरुहनामं]

भवबीयंकुरभूयं कम्मं डहिऊण [3]झाणजलणेण ।
न रुहसि भववणगहणे, तेण तुमं नाह ! 'अरुहो'सि ॥५॥ दारं १ ।

---

१. सव्वदंसण ! ९ सं०टि० ॥
२. अन्वर्थगुणयुतैः ॥
३. झाणजुगलेण हं०॥

वीरस्तुति

(वीर जिनेन्द्र के छब्बीस नाम)

(१-४) जगत् के जीवों के बंधु, भव्यजन रूपी कुमुदिनी को विकसित करने के लिए चन्द्रमा के समान, हिमवान् पर्वत के समान धीर जिनेन्द्र भगवान वीर को नमस्कार करके उनकी निम्न प्रचलित (प्रकट) नामों के द्वारा स्तुति करता हूँ—

(१) अरुह (पुनर्जन्म को ग्रहण नहीं करने वाले) (२) अरिहंत (कर्मरूपी शत्रु का नाश करने वाले) (३) अरहंत (पूजनीय) (४) देव (५) जिन (६) वीर (७) परम कारुणिक (८) सर्वज्ञ (९) सर्वदर्शी (१०) पारगामी (११) त्रिकालज्ञ (१२) नाथ (१३) वीतराग (१४) केवलि (१५) त्रिभुवन के गुरु (१६) पूर्ण (१७) तीनों लोकों में श्रेष्ठ (१८) भगवान (१९) तीर्थंकर (२०) इन्द्रों द्वारा वन्दनीय (२१) जिनेन्द्र (२२) श्री वर्धमान (२३) हरि (२४) हर (२५) कमलासन (२६) प्रमुख (बुद्ध) एवं इसी प्रकार के उनके अन्य अनेक गुणसम्पन्न नामों को जड़मति भी श्रुत के अनुसार जान सकता है।

(१ अरुह)

(५) जन्म-मरणरूपी संसार के बीज को अंकुरित करने वाले कर्म को ध्यान रूपी ज्वाला से जलाकर संसार रूपी गहन वन में पुनः उत्पन्न नहीं होने के कारण हे नाथ ! आप अरुह (अ + रुह = नहीं उगने वाले अर्थात् पुनः जन्म नहीं लेने वाले) हैं।

[२ अरिहंतणामं]

कोहवसग्ग-परीसह्-कसाय-करणाणि पाणिणं अरिणो ।
सयलाण—नाह ! ते हणसि जेण, तेणा[1]'ऽरिहंतो'सि ॥ ६ ॥

वंदण-थुणण-नमंसण-पूयण-सक्करण-सिद्धिगमणम्मि ।
अरहो सि जेण वरपहु !, तेण तुमं होसि 'अरिहंतो' ॥ ७ ॥

अमर-नर-असुरवरपहुगणाण [2]पूयाए जेण अरिहो सि ।
[3]धीर[त्त]मणुम्मुक्को, तेण तुमं देव ! 'अरिहंतो' ॥ ८ ॥ दारं २ ।

[३ अरहंतणामं]

[4]रहु=गड्डि, सेससंगहनिदरिसणमंतो=गिरिगुहमणाणं ।
तं ते नत्थि दुयं पि हु जिणिंद !, तेणारहंतो सि ॥ ९ ॥

[5]रहमग्गंतो, [6]अंतं पि=मरणमवणीय जेण वरनाणा ।
[7]संपत्तनियसरूवो जेण, तुमं तेण अरहंतो ॥१०॥

---

१. तेणा'ऽरिहो' तं सि प्र० ॥
२. पूयाइ जेण अरिहेसि हं० ॥
३. धीरमणमणु° प्र० ॥
४. रहु गड्डि प्र० अस्या गाथायाश्छाया—रथः=गन्त्री, शेषसंग्रहनिदर्शनम्, अन्तर=गिरिगुहा अज्ञानम् । तत् ते नास्ति द्वयमपि हि जिनेन्द्र ! तेन अरथान्तर् असि ॥
५. रहः=अप्रान्तः, अन्तमपि=मरणम्; अपनीय येन वरज्ञानात् । सम्प्राप्तनिज-स्वरूप: येन; त्वं तेन अरहोऽन्तः ॥ इति च्छाया ॥
६. अन्तं पि सं० । अग्गं पि प्र० ॥
७. संपत्तनिय° सं० ॥

(२ अरिहंत)

(६) आपने घोर-उपसर्ग, परिषह और कषाय के कारण-भूत प्राणियों के समस्त कर्म रूपी शत्रुओं का नाश कर दिया है, इस कारण हे नाथ ! आप, 'अरिहंत' (अरि+हंत=शत्रु का हनन करने वाले) हो ।

(७) हे श्रेष्ठ प्रभु ! आप वन्दन, स्तुति, नमस्कार, पूजा और सत्कार के योग्य तथा सिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हो, इसलिए आप 'अरिहंत' (अरिह=योग्य या सामर्थ्यवान) हो ।

(८) हे जिनदेव ! आप देव, मनुष्य एवं असुरों के श्रेष्ठ स्वामियों अर्थात् इन्द्रों के समूह से पूजित तथा धीर एवं मन अर्थात् संकल्प-विकल्प से रहित हो, इसलिए 'अरिहंत' (अर्ह्>पूजायाम्=पूजित) हो ।

(३ अरहंत)

(९) आप 'रह' अर्थात् रथ (गाड़ी) प्रकारान्तर से समस्त परिग्रह और रहस अर्थात् पर्वत की गुफा के अंधकार के समान अज्ञान—इन दोनों से 'अ' अर्थात् रहित हो इस कारण आप अरहंत हो ।

(१०) आपने अपने त्यागमार्ग एवं श्रेष्ठज्ञान (केवलज्ञान) से मृत्यु को भी अवनत अर्थात् परास्त कर दिया है और निज स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, इसी कारण आप अरहंत हो ।

न रहसि सद्दाइ मणोहरेसु अमणोहरेसु तं जेण ।
समयारंजियमण-करण-जोग ! तेणारहंतो सि ॥११॥

अरिहा = जोग्गा पूयाइयाण देविंद-ऽणुत्तरसुराई ।
ताण वि अंतो = सीमाकोडी, तं तेण 'अरहंतो' ॥१२॥ दारं ३ ।

[४ देवणामं]

सिद्धिवहुसंगकीलापरो सि, विजई सि मोहरिउवग्गे ।
णंतसुहपुण्णपरिणइपरिगय !, तं तेण 'देवो'त्ति ॥१३॥ दारं ४ ।

[५ जिणणामं]

रागाइवेरिनिक्किंतणेण, दुहओ वि वयसमाहाणा ।
[1]अयसत्तुक्करिसगुणाइएहिं, तेणं 'जिणो' देव ! ॥१४॥ दारं ५ ।

[६ वीरणामं]

दुट्ठट्ठकम्मगंठिप्पवियारणलद्धलट्ठसंसद्द ! ।
[2]तवसिरिवरंगणाकलिमसोह, तं तेण 'वीरो'सि ॥१५॥

पढमवयगहणदिवसे संकंदणविणयकरणगयतण्हो ।
जाओ सि जेण वरमुणि !, अह तेण तुमं 'महावीरो'॥१६॥दारं ६ ।

[७ परमकारुणियणामं]

सचराचरजंतुदुहत्तभत्त[3]थुयसत्त ! सत्तु-मित्तेसु ।
करुणारसरंजियमणो, तेण तुमं 'परमकारुणिओ' ॥१७॥ दारं ७ ।

---

१. जगत्सर्वोत्कृष्टगुणादिकैः ।

२. तपःश्रीवराङ्गनाकलितशोभः त्वम् । अथ 'मोह' इति लुप्तविभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम् ॥

३. 'थुइस' सं० ॥

(११) आप मनोहर एवं अमनोहर शब्दों में अनुरक्त नहीं रहते हो (अ+रहसि) अथवा आपका मन, वचन एवं शरीर आत्मा/सिद्धान्त में रमण (रहंत) करता है, इसलिए आप 'अरहंत' हो ।

(१२) देवेन्द्र के द्वारा पूजा के योग्य (अरिह्>पूजनीय) होने से अथवा अनुत्तर विमानवासी देवों के सीमा क्षेत्र का भी अतिक्रमण कर लोक के सीमांत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य (अरिह्>योग्य) होने से आप 'अरहंत' हैं ।

(४ देव)

(१३) सिद्धि रूपी स्त्री के साथ श्रेष्ठ क्रीड़ा करने वाले, मोह रूपी शत्रु समूह पर विजय पाने वाले, अनन्त-सुख रूपी पुण्य परिणामों से युक्त होने के कारण आप 'देव' हो ।

(५ जिन)

(१४) व्रत एवं समाधि—इन दोनों जगत् के उत्कृष्ट गुणों के द्वारा रागादि शत्रुओं को निष्कासित कर देने के कारण हे देव ! आप 'जिन' हैं ।

(६ वीर)

(१५) दुष्ट अष्टकर्म रूपी ग्रन्थि का विदारण (नाश) करने वाले, सुन्दर रमणीय भोगों को प्राप्त होने पर भी उनसे विमुख रहने वाले एवं तपलक्ष्मी रूपी श्रेष्ठ स्त्री से शोभायमान होने के कारण आप 'वीर' हो ।

(१६) व्रत ग्रहण के प्रथम दिन ही इन्द्रों के द्वारा प्रणाम किये गये और तृष्णा से रहित हुए हे श्रेष्ठ मुनि ! इस कारण तुम्हें 'महावीर' कहा जाता है ।

(७ परमकारुणिक)

(१७) दुःखों से पीड़ित संसार के समस्त चर एवं अचर प्राणियों की भक्तिभावपूर्ण स्तुति से संस्तुत आप शत्रु एवं मित्र सभी के प्रति करुण रस से रंजित मन वाले होने से 'परमकारुणिक' हो ।

[८ सव्वन्नुणामं]

[1]जे भूय-भविस्स-भवंति भाव सब्भावभावणपरेण ।
नाणेण जेण जाणसि, भणसि तं तेण 'सव्वन्नू' ॥१८॥ दारं ८ ।

[९ सव्वदरिसिणामं]

[2]ते कसिण[3]भुयणभवणोयरि ट्ठिया नियनियस्सरूवेण ।
सामन्नओऽवलोयसि, तेण तुमं 'सव्वदरिसि'त्ति ॥१९॥ दारं ९ ।

[१० पारगणामं]

पारं कम्मस्स भवस्स वा वि सुयजलहिणो व नेयस्स ।
सव्वस्स गओ जेणं, भणसि तं 'पारगो' तेण ॥२०॥ दारं १० ।

[११ तिक्कालविऊणामं]

पच्चुप्पन्न-अणागय-तीयद्धावत्तिणो पयत्था जे ।
करयलकलियाऽऽमलय[4] व्व मुणसि, 'तिक्कालविउ' तेण ॥२१॥ दारं ११ ।

[१२ नाहनामं]

'नाहो' त्ति [5]नाहऽनाहाण भीमभवगहणमज्झवडियाण ।
उवएसदाणओ मग्गनयणओ होसि तं जेण ॥२२॥ दारं १२ ।

---

१. यान् भूत-भविष्यद्-भवतः भावान् सद्भावभावनापरेण । ज्ञानेन येन जानासि ॥

२. 'ते' उपरि अष्टादशगाथायामुक्ता भूत-भविष्यद्-भवद्भावाः कृत्स्नभुवन-भवनोदरे स्थिताः निजनिजस्वरूपेण । [तान्] सामान्यतोऽवलोकसे, तेन त्वं सर्वदर्शीति ॥

३. °भुवणभवणोयरट्ठिया हं० प्र० ॥

४. °लयं व प्र० ॥

५. नाथ ! अनाथानाम् ॥

(८ सर्वज्ञ)

(१८) आप स्व स्वभाव में रमण करते हुए श्रेष्ठ ज्ञान के द्वारा भूत, भविष्य एवं वर्तमान में होने वाले समस्त भावों को जानते हो, इस कारण आपको 'सर्वज्ञ' कहते हैं।

(९ सर्वदर्शी)

(१९) आप सम्पूर्ण विश्व के गर्भ में निहित/निज-निज स्वरूप में स्थित तत्त्वों/पदार्थों के सामान्य स्वरूप का अवलोकन करते हो, इसलिए आप 'सर्वदर्शी' कहे जाते हो।

(१० पारगामी)

(२०) जन्म-मरण रूपी अनेकों भवों और सर्व कर्मों से पार हो जाने के कारण अथवा श्रुत-सागर के तथा सभी ज्ञेय विषयों के ज्ञाता होने के कारण आपको 'पारगामी' कहा जाता है।

(११ त्रिकालविज्ञ)

(२१) भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों को कर में स्थित आमलक के समान जानने के कारण आपको 'त्रिकालविज्ञ' कहा जाता है।

(१२ नाथ)

(२२) दुर्लंघ्य एवं भयावह संसार समुद्र के मध्य डूबते हुए प्राणियों को सदुपदेश देकर उनका मार्गदर्शन करने से आप अनाथों के नाथ हो, इसलिए आप 'नाथ' कहे जाते हो।

[१३ वीयरायनामं]

रागो = रई[1], सुभेयरवत्थुसु अंतूण चित्तविणिवेसो ।
सो राओ, दोसो उण = तव्विवरीओ मुणेयव्वो ॥ २३ ॥

सो कमलासण-हरि-हर-दिणयरपमुहाण माणदलणेण ।
लद्धोक्करसो पत्तो जिण ! तुह मूले, तओ तुमए ॥ २४ ॥

जं मलण-दलण-विद्दलण-कवलणविम[2]मच्छिक्कोमजीवो त्ति ।
कर-चरण-नयण-करुह-अहरदलं वसइ अणुजं व ॥ २५ ॥

दोसो वि कुडिलकुंतल-भू-पम्हल-नयणतारियमिसेण ।
गुरु निक्कारणं सूयइ, तं मन्ने गुणकरे बहुणो ॥ २६ ॥

अह वि [3]बहुरूवधारी वसंति ते देव ! तुह सरीरम्मि ।
तक्कयविगाररहिओ तह वि, तुमं 'वीयरागो'त्ति ॥२७॥ दारं १३ ।

[१४ केवलिणामं]

जं सव्वदव्व-पज्जवपत्तेयमणंतपरिणइसरूवं ।
जुगवं [4]मुणाइ तिक्कालसंठियं केवलं तमिह ॥ २८ ॥

तं ते अप्पडिहयसलिपसरमणवरयमविगलं अत्थि ।
मुणिणो मुणियपयत्था तेण तुमं [5]'केवलि'त्ति ॥२९॥ दारं १४ ।

---

१. रई प्र० ॥
२. मत्थिपजोअजीवो त्ति हं० ॥
३. बहिरूव' सं० हं० ॥
४. मुणेइ प्र० हं० ॥
५. 'केवली' होसि सं० हं० ॥

(१३ वीतराग)

(२३) शुभ वस्तुओं में प्राणी के चित्त का निविष्ट होना राग / रति है और अशुभ वस्तुओं के प्रति विमुखता के भाव को द्वेष कहा जाता है। ऐसे राग द्वेष से रहित होने के कारण आप वीतराग हैं।

(२४) ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सूर्य आदि प्रमुख देव अपने अहंकार का विगलन होने पर आपके पाद-मूल में उपस्थित होते हैं फिर भी हे जिन ! आप एक रस अर्थात् निर्विकार रहते हैं, इसीलिये आप वीतराग हैं।

(२५) जो कमल मर्दन, दलन, विहलन, ग्रसन से युक्त होकर अपना जीवन जीता है, वही कमल आपके कर, चरण, नयन, नख और अधर में उपर्युक्त दोषों से रहित होकर निवास करता है।

(२६) कुटिलकुंतल (घुंघराले बाल) पक्ष्मल भौहें (घनीभूत भौहें) तारिका सदृश नयन और गुरु का अभाव ये दोष ही हैं फिर भी ये दोष आपके लिए गुण ही माने जाते हैं।

(२७) हे देव ! यदि तुम्हारे शरीर में विविध रूप धारण करने वाले देव भी निवास करते हों तो भी उनके द्वारा किये गये विकारों से आप रहित हैं, इसलिए आप 'वीतराग' कहे जाते हैं।

(१४ केवली)

(२८) जो सभी द्रव्यों की अनन्त परिणति रूप त्रिकाल में होने वाली प्रत्येक पर्याय के स्वरूप को युगपद रूप से जानते हैं, वे 'केवली' कहे जाते हैं।

(२९) आप अपनी अप्रतिहत शक्ति के प्रसार से ज्ञेय पदार्थों को अनवरत एवं सम्पूर्ण रूप से जानते हैं, इसलिए आप 'केवली' कहे जाते हैं।

[१५ तिहुयणगुरुणामं]

पंचेंदिसमिणो जे तिहुअणसद्देण तेऽत्थ गेज्झंति ।
तेसिं सद्धम्मनिओयणेण तं 'तिहुयणगुरु'त्ति ॥३०॥ दारं १५ ।

[१६ सव्वणामं]

पत्तेयर-सुहुमेयरजिएसु गुरुदुह विलुप्पमाणेसु ।
सव्वेसु वि हियकारी तेसु, तुमं तेण 'सव्वो'सि ॥३१॥ दारं १६ ।

[१७ तिहुयणवरिट्ठणामं]

बल-विरिय-सत्त-सोहग्ग-रूव-विन्नाण-नाणपवरो सि ।
उत्तमपयकयवासो, तेण तुमं 'तिहुयणवरिट्ठो' ॥३२॥ दारं १७ ।

[१८ भयवं[त]णामं]

[1]पडिपुन्नरूव१धण२धम्म[2]३कंति४उज्जम५जसाण६भयसन्ना ।
ते अत्थि अविकला तुम्ह नाह !, तेणासि 'भयवंतो' ॥ ३३ ॥

इह-परलोयाईयं[3] भयं ति वायरयंति सत्तविहं ।
तेण[4]च्चिय[5]परिचत्तो जिणेस !, तं तेण 'भयवंतो'॥३४॥दारं १८ ।

---

१. प्रतिपूर्णरूप-धन-धर्म-कान्ति-उद्यम-यशसां 'भगसंज्ञा' भगशब्देनोपलक्षणम् ॥
२. सर्वास्वपि प्रतिषु धम्मपाठस्थाने धम्म इति पाठो वर्त्तते, किन्त्वात्र धम्म इत्येव पाठः सङ्गत इति स एवात्र विहितः । अन्यत्रापि इत्थमेव दृश्यते । तथाहि—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य १ रूपस्य २ यशस. ३ श्रियः ४ धर्मस्याथ ५ प्रयत्नस्य ६ षण्णां भग इतीङ्गना ॥" श्रीहेमचन्द्रीयानेकार्थकोशे द्विस्वरकाण्डे भगशब्दस्यार्था एवं व्यावर्णिताः सन्ति—"भगोऽर्क-ज्ञान-माहात्म्य-यशो-वैराग्य-मुक्तिषु । रूप-वीर्य-प्रयत्नेच्छा-श्री-धर्मैश्वर्य-योनिषु ॥" इति ॥
३. 'लोगाई' हं० ॥
४. 'तेन' भयेन ॥
५. सर्वास्वपि प्रतिषु अत्र लिपिभ्रान्तिजनितः परिचत्तो इति पाठो दृश्यते, किन्त्वात्र परिचत्तो इत्येव पाठः साधुः ॥

(१५ त्रिभुवनगुरु)

(३०) त्रिभुवन के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव शब्दों से जिन अर्थों को ग्रहण करते हैं, उनमें सद्धर्म का विनियोजन करने के कारण आप 'तीनों लोकों के गुरु' हो।

(१६ सर्व)

(३१) भारी दुःखों में विलुप्त होते हुए संसार के प्रत्येक सूक्ष्म एवं स्थूल प्राणी अर्थात् सभी प्राणियों के लिए हितकारी होने के कारण आप 'सम्पूर्ण' हो।

(१७ त्रिभुवनश्रेष्ठ)

(३२) बल, वीर्य, सत्त्व, सौभाग्य, रूप, विज्ञान, ज्ञान — इन सभी में श्रेष्ठ तथा उत्तम पद अर्थात् तीर्थंकर पद पर वास अर्थात् अधिकार करने से 'त्रिभुवन-श्रेष्ठ' हो।

(१८ भगवन्त)

(३३) हे नाथ ! प्रतिपूर्ण रूप, ऐश्वर्य, धर्म, कांति, पुरुषार्थ और यश के कारण आपकी 'भग' संज्ञा अविकल है। इसलिए आप 'भगवन्त' हो।

(३४) हे जिनेश्वर ! इहलौकिक एवं पारलौकिक सात प्रकार के भय को विनष्ट कर देने से अथवा उसका परित्याग कर देने के कारण ही आप 'भयवन्त' हैं। [ज्ञातव्य है कि यहाँ भगवंत के प्राकृत रूप भयवन्त की भय है 'यान्त' जिसका, ऐसी व्याख्या की गयी है]

[१९ तित्थयरणामं]

तित्थं चउविहसंघो, [1]पढमो च्चिय गणहरोऽहवा तित्थं ।
तत्तित्थकरणसीलो तं सि, तुमं तेण 'तित्थयरो' ॥३५॥ दारं १९ ।

[२० सक्काऽभिवंदियणामं]

एवं गुणगणसक्कस्स कुणइ सक्को वि किमिह अच्छरियं ।
अभिवंदणं जिणेसर !?, [2]ता 'सक्काऽभिवंदिय !' नमो ते
॥३६॥ दारं २० ।

[२१ जिणिंदणामं]

मणपज्जवोहि-उवसंत-खीणमोहा जिण त्ति भन्नंति ।
ताणं चिय तं इंदो परमिस्सरिया 'जिणिंदो'त्ति ॥३७॥ दारं २१ ।

[२२ वद्धमाणणामं]

सिरिसिद्धत्थनरेसरगिहम्मि धण-कणग-देस-कोसेहिं ।
वड्ढेसि तं जिणेसर !, तेण तुमं 'वद्धमाणो'सि ॥३८॥ दारं २२ ।

[२३ हरिणामं]

[3]हरि सि तुमं कमलालय ! करयलगय-संख-चक्क-सारंगो ।
दाणवरिसो[4] सि जिणवर !, तेण तुमं भण्णसे 'विण्हू' ॥३९॥
दारं २३ ।

---

१. पढमु प्र० हं० ॥
२. तो प्र० ॥
३. हरसि खमं सं० हं ॥
४. [1]वरिसु सि प्र० हं० ॥

(१९ तीर्थंकर)

(३५) चतुर्विध संघ रूपी तीर्थ अथवा प्रथम गणधर रूप तीर्थ की संस्थापना करने के कारण आप 'तीर्थंकर' कहे जाते हो।

(२० शक्राभिवन्दित)

(३६) इसी प्रकार गुणों के समूह से युक्त होने के कारण इन्द्र भी आपका अभिवन्दन करता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? 'शक्राभिवन्दित' जिनेश्वर! आपको नमस्कार हो।

(२१ जिनेन्द्र)

(३७) मनः पर्यायज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त एवं उपशान्त मोह अथवा क्षीण मोह गुणस्थानों के धारक व्यक्ति 'जिन' कहे जाते हैं। उनकी अपेक्षा भी अधिक आध्यात्मिक ऐश्वर्ययुक्त होने से आप उनके इन्द्र (स्वामी) हैं। इसलिए आप 'जिनेन्द्र' कहे जाते हो।

(२२ वर्धमान)

(३८) हे जिनेश्वर! आपके (गर्भ में) आने से श्री सिद्धार्थ राजा के घर में वैभव, स्वर्ण, जनपद एवं कोष में वृद्धि हुई। इस कारण आप 'वर्धमान' हो।

(२३ हरि)

(३९) हे कमलालय (लक्ष्मी निधान)! आपके करतल अर्थात् हथेली में शंख, चक्र, धनुष के चिह्न होने से एवं दान की वर्षा करने से अथवा वर्षीदान देने के कारण हे जिनेश्वर! आप 'हरि' (विष्णु) कहे जाते हैं।

[२४ हरणामं]

हरसि रयं जत्तूणं बज्झं अब्भिंतरं, न खट्टंगं ।
जह य नीलकंठकलिओ, हरो त्ति तं भण्णसे तह वि ॥४०॥ दारं २४।

[२५ कमलासणणाम]

कमलासणो त्ति, जेणं दाणाईचउहधम्मचउवयणो ।
हंसगमणो[1] य गमणे, तेण तुमं भण्णसे 'बंभो' ॥४१॥ दारं २५।

[२६ बुद्धणामं]

बुद्धं अवगयमेयट्ठियं ति, जीवाइतत्त[2]सविसेसं ।
वरविमलकेवलाओ, तेण तुमं भण्णसे 'बुद्धो' ॥४२॥ दारं २६।

इय नामावलिसंथुय ! सिरिवीरजिणिंद ! मंदपुण्णस्स ।
वियर करुणाइ जिणवर ! सिवपयमणहं थिरं वीर ! ॥४३॥

॥ [3]वीरत्थओ [4]समत्तो ॥

---

१. °गमणं व गमणे प्र० । °गमणो उ गमणे हं० ॥
२. °समविसेसं सर्वासु प्रतिषु ॥
३. वीरस्तवप्रकीर्णकम् प्र० ॥
४. सम्मत्तो इति प्र० हं० नास्ति । सम्मत्तो ॥ १० ॥ सं० ॥

(२४ महादेव)

(४०) हे प्रभु आप न तो खट्वाङ्ग (शिव का आयुध) को धारण करते हो और न ही 'नीलकण्ठ' हो फिर भी प्राणियों के बाह्य एवं आभ्यन्तर कर्म रूपी रज का हरण करते हो, इसलिए आप 'हर' (शिव) कहे जाते हो।

(२५ ब्रह्मा)

(४१) जिनका कमलों का आसन है, आप दानादि धर्म रूपी चार मुखों से युक्त हैं अथवा समवसरण में चतुर्मुख प्रतीत होते हैं। आपका हंस अथवा संन्यास की श्रेष्ठतम अवस्था में गमन होता है। इस कारण आप 'ब्रह्मा' कहे जाते हैं।

(२६ त्रिकालविज्ञ)

(४२) आप श्रेष्ठ एवं निर्मल केवलज्ञान के द्वारा जीवादि तत्त्वों की विशिष्ट पर्यायों को एक ही साथ जानने के कारण 'बुद्ध' कहे जाते हैं।

(४३) इस प्रकार मेरे द्वारा श्री वीर जिनेन्द्र की यह नामावली संस्तुत की गयी। हे जिनेश्वर महावीर ! करुणा करके आप मुझ मन्द पुण्य को शाश्वत निर्दोष शिव पद प्रदान करें।

(वीरस्तव समाप्त)

१. परिशिष्ट

वीरस्तव प्रकीर्णक की गाथानुक्रमणिका

गाथा	क्रमांक
अ	
अमर-नर-असुरवरपहु	८
अरिहा जोगा पूया	१२
अरुह ! अरिहंत ! अरहंत !	२
इ	
इय नामावलिसंथुअ !	४३
इह-पारलोयाईयं	३४
ए	
एवं गुणगणसक्कस्स	३६
क	
कमलासणो वि जेणं	४१
घ	
घोरुवसग्ग-परीसह	६
ज	
जइ वि बहुरूवधारी	२७
जय वीयराय ! केवलि !	३
जं मलण-दलण-विहम्मण	२५
जं सव्व-दव्व-पज्जव	२८
जे भूय-भविस्स-भवंति	१८
त	
तं ते अप्पविहूयसत्ति	२९
तित्थं चउविहसंघो	३५
ते कसिण भुयणभवणोयरि	१९
द	
दुट्ठअट्ठकम्मगंठि	१५
दंसो वि कुडिल कुंतल	२६
न	
नमिऊण जिणं जय जीव	१
न रहसि सद्दाइमणो हरेसु	११
'नाहो' त्ति नाहअनाहाण	२२
प	
पच्चुप्पन्न-अणागय	२१
पडिपुण्णरूवघणधम्मं	३३
पढमसमयगहण दिवसे	१६
पत्तेयर सुहुमेयर	३१
पंचेंदिय सन्निणो जे	३०
पारं कम्मस्स भवस्स	२०
ब	
बम्ह विरिय सत्त-सोहग्ग	३२
बुद्धं अवगयमेगट्ठियं	४२
भ	
भवबीयंकुरभूयं	५
म	
मणपज्जव बोहि-उवसंत	३७

गाथा	क्रमांक	गाथा	क्रमांक
र		सिद्धिबहुसंगकीला	१३
रहुमग्गंतो, अंत	१०	सिरिवद्धमाण हरिहर	४
रहु-गड्डि सेससंगह	९	सिरिसिद्धत्थनरेसर	३८
रागाइवेरिनिक्कतणेण	१४	सोकमलासण हरिहर	२४
रागो-रई, सुमेयर	२३		
व		ह	
वंदण-थुणण-नमंसण	७	हरसि रयं जंतूणं	४०
स			
सचराचरजंतुदुयत्त	१७	हरि सि तुमं कमलालय !	१९

——

२. परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

(१) अणगार धर्मामृत : पं० आशाधर

(२) अर्द्धमागधी कोश : भाग १-५, पं० रत्नचन्द्र जी म० सा०—अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी

(३) अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग १-७, श्री विजय राजेन्द्र सूरि-रतलाम

(४) आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन-मुनि नगराज

(५) जैन लक्षणावली : भाग-१-३, बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री-वीर सेवामन्दिर, दिल्ली

(६) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश : भाग १-४, जिनेन्द्रवर्णी भारतीय ज्ञानपीठ-दिल्ली

(७) जिनसहस्रनाम : पं० आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ-दिल्ली

(८) जिनसहस्रनाम स्तोत्र : विनयविजय जी, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा-भावनगर

(९) जैन स्तोत्र संग्रह : भाग १, २ : सोमसुन्दर सूरि

(१०) जैन स्तोत्र संदोह : सम्पादक--मुनिश्री चतुरविजय जी

(११) जैन स्तुति संग्रह : महालचन्द बयेद

(१२) जैन स्तुति संग्रह : डूंगरशी

(१३) देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक : डा० सुभाष कोठारी, आगम संस्थान, उदयपुर

(१४) नन्दीसूत्र : मुनिमधुकर-आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(१५) प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-नेमिचन्द्र शास्त्री

(१६) पाइअसद्दमहण्णवो : पं० हरगोविन्ददास-प्राकृत टेक्टस् सोसायटी, वाराणसी

(१७) पइण्णय सुत्ताइं : भाग १, २ मुनिपुण्यविजयजी-महावीर जैन विद्यालय, बम्बई

(१८) महावीर चरित मीमांसा : पं० दलसुख मालवणिया-अहमदाबाद

(१९) वीर स्तुति : मुनि रामकृष्ण-चावड़ी बाजार-दिल्ली

(२०) वीर स्तव : जिनप्रभाचार्य

(२१) वीरस्तवनम् : मूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री

(२२) वीरस्तुति : पुष्प भिक्खु

(२३) वीरस्तुति : सं० अमरचन्द जी म० सा०

(२४) सागर जैन विद्या भारती : डा० सागरमल जैन, वाराणसी

(२५) सूत्रकृतांग : मुनि मधुकर—आगम प्रकाशन समिति-ब्यावर

(२६) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति : निर्युक्तिसंग्रह, हर्षपुष्पामृत ग्रन्थमाला-सौराष्ट्र

(२७) श्रमण: त्रैमासिक-अप्रेल १९८२, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी